Knowledge Consortium of Gujarat
Department of Higher Education - Government of Gujarat
Journal of Humanity
ISSN: 2279-0233
Continuous issue-23 | April – May 2016

वर्तमान समाज एवं हिन्दी उपन्यासों में नारी की स्थिति पर विमर्श

कहा जाता है कि जिस क्षण से कोई जन-विरोधी व्यवस्था जन्म लेती है उसी क्षण उस व्यवस्था का प्रतिरोध और निषेध करनेवाली शक्तियाँ भी जन्म लेती हैं। हिन्दी में नारीवादी लेखन का इतिहास कुछ इसी प्रकार का रहा है। मातृसत्तात्मक समाज के खत्म होते ही ज्यों ही पुरुषवादी समाज अस्तित्व में आया स्त्रियों के प्रति दमन स्वाभाविक हो गया। उसी क्षण से स्त्रियों के प्रति सहानुभूति, स्त्रियाँ के अधिकारों को लेकर संघर्ष करनेवाली शक्तियाँ अस्तित्व में आई। जब हम हिन्दी साहित्य में नारीवादी लेखन का अध्ययन करते हैं तो हमें पता चलता है कि हिन्दी साहित्य अपने समग्र स्वस्थ रूप में जब से अस्तित्व में आया है तभी से हर प्रकार के शोषण का विरोध होता रहा है। साहित्यकारों ने अपनी-अपनी तरह से स्त्रियों के अधिकारों को लेकर आवाज़ें उठायी हैं। यह बाद दीगर है कि प्रारंभिक काल में स्त्री-चेतना का जो साहित्य उपलब्घ है वह किसी आंदोलन का स्वरूप धारण नहीं करता। पुरुषों के द्वारा ही लिखा हुआ साहित्य उपलब्ध है। हालाँकि कई स्त्रियाँ भी उपन्यासों के माध्यम से स्त्रियों की समस्याओं का चित्रण करती है, किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया स्त्रियों के पक्ष में लिखा गया समग्र साहित्य स्त्रियों के प्रति सहानुभूति का परिणाम है, किसी आंदोलन का हिस्सा नहीं है। जैसा कि वर्तमान काल नारीवादी लेखन ने आंदोलन का स्वरूप धारण किया है।

पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी साहित्य में स्त्री-चेतना और स्त्री-दृष्टि के बारे में चर्चा हो रही है। पहले यह चर्चा कुछ धीमे स्वर में जहाँ तहाँ सुनायी पड़ती थीं, पर अब इस चर्चा का स्वर अधिक तेज और सघन हुआ है। हिन्दी में स्त्री-चेतना, स्त्रीविमर्श, स्त्री-दृष्टि की चर्चा की शुरूआत भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में स्त्रियों की सक्रिय साझेदारी, पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से आत्म जागरूकता तथा आलोचनात्मक दृष्टि के जागरण और आधुनिक हिन्दी साहित्य में रचनाकार के रूप में महिलाओं के आने के साथ होता है। हालाँकि स्वाधीनता के बाद परिदृश्य बदल जाता है। नारीवादी चेतना धुँधली पड़ जाती है। किन्तु पिछले कुछ वर्षों में लिखे गये साहित्य पर यदि हम दृष्टिपात करें तो हिन्दी साहित्य में बड़ी संख्या में रचनाकार और आलोचक के रूप स्त्रियों के आने और सक्रिय होने के साथ एक बार पुन: स्त्री-विमर्ष के महत्व की पहचान और स्त्रीवादी दृष्टि की माँग जोर पकड़ने लगी है। इसके पीछे संभवत: सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक स्तर पर स्त्रियों की स्वतंत्रता के लिए जो संगठन कार्य कर रहे हैं उनमें क्रमश: आया हुआ विकास है। इसके अलावा जो दूसरी चीज स्त्रीवादी दृष्टिकोण के पीछे, उसके विकास के पीछे जो काम कर रहा है वह है पश्चिमी सभ्यता और वैचारिक क्षेत्र में नारीवादी दृष्टिकोण तथा चिंतन के प्रचार का प्रभाव।

वर्तमान समय में दुनिया में नारीवादी चेतना या नारीवादी लेखन और मुक्ति के आंदोलनों के माध्यम से स्त्रियाँ अपने बारे में सजाग और सचेत हुई। नारीवादी चिंतन ने मानव समाज और सभ्यता के इतिहास में स्त्रियों की बदलती परिस्थिति और स्त्रियों की भूमिका महत्वपूर्ण है। गंभीर विवेचनकरते हुए वर्तमान काल में नारी की वास्तविक स्थिति और आकलन ने काफी मदद की है। आज स्त्रियाँ पुरानी रूढि और तरह-तरह के अत्याचारों से मुक्त होकर अपने अधिकारों की

रक्षा और व्यापक रूप में नारी समुदाय की स्वतंत्रता की दिशा में आगे बढ़ रही हैं। इस परिस्थिति का असर स्त्री लेखन पर पड़ा है। हिन्दी में इधर जब से नारी चेतना की चर्चा आरंभ हुई है और उसके विशिष्ट रक्षा की बात उठी है तभी से पुरुष दृष्टि से स्वतंत्र स्त्री दृष्टि की माँग का विरोध भी होने लगा है। जहाँ जरूरत इस बात की थी कि आलोचना में मुकम्मल तौर पर स्त्री दृष्टि के अर्थ और स्वरूप की खोज का प्रयत्न हो वहाँ ऐसे प्रयत्न के पहले ही स्त्री रचनाकारों की स्वतंत्र दृष्टि, स्त्री दृष्टि की माँग को अनुचित ठहराया जाने लगा है। इसके कुछ उदाहरण देखेंगे।

मई 1993 के हंस में प्रसिद्ध लेखिका मृदुला गर्ग ने नारी-चेतना के महत्वपूर्ण मुद्दे को उठाते हुए नारी-चेतना को लिंग जाति और वर्ग से जोड़कर देखने का विरोध किया है। वे कहती हैं कि यह चतेना स्त्री-पुरुष दलित गैर दलित सबमें हो सकती है। उनका संबंध वर्ग, वर्ण, धर्म या लिंग से नहीं दृष्टि से हैं जो सहानुभूति की ऐतिहासिक, सामाजिक और वैयक्तिक यात्रा से विकसित होती है। आगे चलकर उन्होंने कहा है, "नारीवादी लेखक का संबंध लिंग से नहीं भावबोध, जीवनदृष्टि और चेतना से हैं।"1 इसीलिए उनके अनुसार नारी-चेतना संपन्न साहित्य स्त्री-पुरुष दोनों रच सकते हैं। एक अन्य लेखिका हैं डॉ. निर्मला जैन। वे आलोचक हैं। उन्होंने भी मृदुला गर्ग की तरह जुलाई 1994 के हंस में अपने 'कथा और नारी संदर्भ' शीर्षक लेख में रचना और आलोचना में स्त्री-दृष्टि की जरूरत का खंडन किया है। उन्होंने लिखा है, "वर्गीय विभाजन लेखन से समग्र मूल्यांकन में बाधा पड़ती है। वस्तुत: रचनाकार की न जाति होती है न धर्म और न वर्ग।"2 इस तरह निर्मला जैन महिला लेखन की विशिष्ट पहचान को अस्वीकार करती है। निर्मला जैन इस कड़वी सच्चाई को जानती है कि पुरुषप्रधान समाजों में सदियों से महिलाओं का दमन और शोषण होता आया है। समाज में उनकी भूमिका और उनकी समाजिक हैसियत का निर्धारण पुरुष द्वारा हुआ है। समाज के हाथों जो दर्जा स्त्री को भी दिया जाता है वह किसी हद तक उसकी मानसिक बनावट का नियामक होता है। फिर भी यह आश्चर्य की बात हैकि वे साहित्य में स्त्रियों के स्वतंत्र वर्ग रचनात्मक चेतना और आलोचना दृष्टि के अस्तित्व और महत्व को अस्वीकार करती हैं। साहित्य में स्त्री और लेखक के महत्व और स्त्री-दृष्टि जरूरत के बारे में प्रभा खेतान ने जून 1994 के हंस में 'उपन्यास और नारी का आत्मसंघर्ष' नामक लेख में स्त्री-चेतना को स्त्री के आत्मसंघर्ष और सामाजिक संघर्ष की अभिव्यक्ति मानते हुए स्त्री लेखन की स्वतंत्र सत्ता और स्त्री दृष्टि की जरूरत पर जोर दिया है और कहा है, "मैं मानकर चलती हूँ कि स्त्री लेखन में फर्क होता है और रहेगा क्योंकि स्त्री और पुरुष आज भी इस पितृसत्तात्मक समाज में जैविक, आर्थिक और सामाजिक धरातल पर भिन्न हैं।"3 भारतीय समाज में स्त्री की गुलामी से मुक्ति का इतिहास जितना पुराना है, जैसे पहले कहा जा चुका है इस गुलामी से मुक्ति के लिए स्त्री के संघर्ष का इतिहास भी उतना पुराना है।

नारी मुक्ति का एक माध्यम है उसका लेखन जो उसकी स्वतंत्रता की आकांक्षा और आग्रह की अभिव्यक्ति का साधन भी है। आधुनिक काल में स्वाधीनता आंदोलन और भारतीय नवजागरण के साथ हिन्दी क्षेत्र में नारीजागरण और स्त्री मुक्ति के स्वर सुनाई पड़ते हैं। ऐसे स्वरों में एक अत्यंत बुलंद और मूलगामी स्वर महादेवी वर्मा के लेखन में मिलता है। 1931 से 1934 के बीच महादेवी वर्मा ने भारतीय समाज, स्त्री की गुलामी, उसकी पीड़ा और यातना की त्रासद का विवेचन करते हुए अनेक निबंध लिखे जो 1942 में 'शृंखला की कड़ियाँ' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। यह ठीक है कि स्त्री के दयनीय दशा का, उसके जीवन संघर्ष का चित्रण अनेक पुरुष लेखकों ने भी किया है जो कई बार प्रभावशाली भी बना है लेकिन वह रचना दृष्टि करूणा

से उपजी हुई सहानुभूति तक ही सीमित है। उसमें आत्मानुभूति की आग और बेचैनी नहीं होती है। यह बात शरत, प्रेमचंद, जैनेन्द्र आदि के बारे में भी सच है। जब कि उन्होंने पूरी सहानुभूति के साथ भारतीय स्त्री के जीवन की विडंबनाओं और यातनाओं का चित्रण किया है। वास्तव में स्त्री द्वारा दिये गये और देखे गये जीवन का आत्मानुभूति के रूप में प्रामाणिक चित्रण कोई स्त्री ही कर सकती है। यहाँ एक और समस्या विचारणीय है। स्त्रियों का लिखा हुआ साहित्य हमेशा स्त्रियों की वास्तविक स्थिति के बाहर और उनकी संभावित चेतना की सचेत तलाश नहीं करता। हिन्दी में स्त्री लेखन के बारे में प्राय: यह कहा जाता है कि इसका क्षेत्र सीमित है। वह घर, परिवार, प्रेम, अध्यात्म और बच्चों की दुनिया तक सीमित है। यह बात सही नहीं है। क्या मन्नू भंडारी का 'महाभोज', महाश्वेता देवी का 'जंगल के दावेदार', कुरुर्तल एन हैदर का 'आग का दरिया', कृष्णा सोबती का 'जिंदगीनामा' और नाशिरा शर्मा का 'जिन्दा मुहावरे' आदि उपन्यास घर परिवार की समस्याओं तक सीमित हैं? इन उपन्यासों में भारतीय समाज की व्यापक सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक समस्याओं तथा वास्तविकताओं की गंभीर रचनात्मक छानबीन और अभिव्यक्ति है। हिन्दी में जो स्त्री लेखन हो रहा है उसके बारे में यह भी कहा जाता है कि वह बहुत आगे नहीं जा पाया है। वह पुरुष लेखन की तुलना में पिछड़ा हुआ । यह पुरुषों का आरोप नहीं है। कभी-कभी लेखिकाओं की चिंता के रूप में भी सामने आता है।

सदियों से होते हुए शोषण और दमन के प्रति स्त्री चेतना ने ही स्त्री-विमर्श को जन्म दिया है। स्त्री-विमर्श और कुछ नहीं आत्मचेतना, आत्मसम्मान, आत्मगौरव, समता और समानाधिकारों की पहल का दूसरा नाम है। स्त्री-विमर्श वस्तुत: स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद की संकल्पना है। यह भी बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में इस विचारधारा को पनपने के लिए उपयुक्त परिवेश मिला, यह कहा जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। वर्तमान में स्त्री के बारे में प्रभा खेतान की मान्यता है कि, "आज की स्त्री ने सदियों की खामोशी तोड़ी है। उसकी नियति में बदलाव आया है। उसके व्यक्तिगत जीवन का उद्देश्य, दर्शन, उसका मन, मिजाज, सभी बदल रहा है।"4 स्त्री के भीख माँगने की नहीं प्रतिरोध करने की अपेक्षा रखते हुए प्रभाजी इस पुस्तक में अगले पृष्ठ पर कहती हैं, "झूठे प्रलाप से आरक्षण की भीख माँगने से कुछ हो जानेवाला नहीं। स्त्री को तो प्रतिरोध की परिभाषा सीखनी होगी।"5 वस्तुत: स्त्री-विमर्श या नारीवादी लेखन समकालीन विचार चिंतन है।

समकालीन हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्श की अपूर्व पहल नजर आती है। समकालीन अर्थात् सन् 1960 के पश्चात् के हिन्दी साहित्य में यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विकसित होती गई। हिन्दी उपन्यासों में अमृतलाल नागर का 'नाच्यो बहुत गोपाल', संजीव का 'धार', सुरेन्द्र वर्मा का 'मुझे चाँद चाहिए', मृदुला गर्ग का 'कठगुलाब', प्रभा खेतान का 'छिन्नमस्ता', चित्रा मुद्गल का 'आवाँ', मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक' तथा 'विजन' और अलका सरावगी का 'शेष कादंबरी' आदि उपन्यासों में नारीवादी चेतना की पहल दिखाई देती है। नारी चाहे सवर्ण हो या दलित अपमान और शोषण उसे दोनों स्थितियों में सहना पड़ता है। लेकिन उसे इस का अहसास होने लगा है कि वह मौन, मूक न रहकर वाचाल होने लगी है। अस्तित्वबोध एवं आत्मचेतना के परिणाम स्वरूप स्त्री अब अपनी जिन्दगी की सार्थकता बच्चा पैदा करने में नहीं मानती। खानदान के नाम पर अपने परिवार में चार दीवारों के भीतर स्वयं के अस्तित्व को कैद कर देना भी अब उसे मंजूर नहीं दिखाई देता। नारी अपने जिस्म को स्वेच्छा से नहीं बल्कि

मजबूरी से बेचती है। कभी-कभी परिवारवालों के कहने के बाद तथा परिवार का बोझा ढोने के लिए भी उसे अपनी देह को कमाई का साधन बनाना पड़ता है।

लेकिन वह इस सच्चाई को भी अब निडरता से अभिव्यक्त कर रही है। जगदंबा प्रसाद दीक्षित के 'मुर्दाघर' उपन्यास की मैना के जरिये इन्हीं विचारों को अभिव्यक्ति मिली है। आत्मचेतना एवं अस्तित्वबोध के फलस्वरूप स्त्रियों में भी चेतना दिखाई देती है। पुरुष अगर पत्नी का त्याग कर दूसरी स्त्री से शादी कर सकता है तो मैं क्यों न करूं यह विचार भी उसमें बढ़ता जा रहा है। 'आपका बंटी' की शकुन इसका प्रमाण है। आत्मनिर्भरता की हिमायत स्त्री-विमर्श का एक अभिन्न अंग है। स्त्री का जितना शोषण आत्मनिर्भरता के अभाव में हुआ है उतना आत्मनिर्भर होने से दिखाई नहीं देता। वस्तुत: नारी की सारी आजादी उसके आत्मनिर्भर होने में निर्भर होती है। 'मुझे चाँद चाहिए' की वर्षा वशिष्ठ इसी विचार की कायल है। नारी चाहे भारतीय हो चाहे पश्चिमी कम-अधिक मात्रा में प्राय: दोनों को पुरुषप्रधान समाज के अन्याय को बर्दाश्त करना पड़ता है। लेकिन आधुनिककालीन परिवेश के कारण स्त्री अपनी विचार शक्ति के बल पर अन्याय का विरोध करने लगी है। यही नहीं अपने जीवन के फैसले वह स्वयं कर रही है। पुरुष के या भाग्य के भरोसे वह स्वयं को नहीं छोड़ रही है। प्रभा खेतान के 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में इसका चित्रण मिलता है। पहले की तरह घुट-घुट कर मरना अथवा आँसू बहाते रहना आज की स्त्री को पसंद नहीं आता। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया इस का सशक्त उदाहरण है। स्त्री-चेतना का विकास समकालीन उपन्यासों का महत्वपूर्ण विचारपक्ष है। सही-गलत, अच्छा-बुरा, तथा वैध-अवैध की व्यवस्था सदियों पुरुष करते चले आये हैं लेकिन अब स्त्री को पुरुषों द्वारा रचित शास्त्र में क्या उचित और क्या अनुचित है इसकी चिंता नहीं।

अब समाज में ऐसी नारियाँ दिखाई दे रही है जोकिसी अन्यायग्रस्त नारी का साथ देने में हिचकती नहीं। चित्रा मुद्गल के 'आवाँ' उपन्यास की विमला इस की सशक्त मिशाल है। 'नया मापदंड' स्त्री विमर्श खंड-1 के अथिति संपादक डॉ. कमलकुमार अपने संपादकीय में नारीवादी लेखन के बारे में ठीक लिखती हैं, "नारीवाद का मूल उद्देश्य स्त्री की सनातनी सोच को तोड़ना था। उसके अनुभवों को अभिव्यक्ति देना था। स्त्री जीवन के विविध प्रसंगों पर विचार, तर्क और बुद्धि से सोचना-समझना था।"6 आजकल प्रेम का नाटक कर नारी के शरीर को पाने के लिए किये गये पुरुष के प्रयास को नारी बखूबी जानने लगी है। अत: वह बेवकूफ बनना नहीं चाहती। फूलों और लताओं से उपमित किया जा उसे पसंद नहीं है। वह स्वयं को शेरनी से कम नहीं समझती। वैधकीय क्षेत्र में भी नारी का शोषण खत्म नहीं हो पाया है। आज मरीज के रूप में अस्पताल गई नारी डाक्टर का ही साथ देती है। लेकिन आज कोई ऐसी भी डाक्टर स्त्री सामने आ रही है जो बलात्कारित महिला का साथ देकर बलात्कारी डाक्टर को सजा देने का संकल्प का साहस करती है। मैत्रेयी पुष्पा के 'विजन' उपन्यास की आभा इस का प्रमाण है। आजकल गाँव में भी ऐसी स्त्रियाँ दिखाई देने लगी हैं जो पूरे समाज का, उसकी दकियानूस मानसिकता का विरोध कर विद्रोह का साहस करने लगी है. मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक' उपन्यास की नैना सारंग इसकी सशक्त मिशाल है।

पिछले दिनों या यूँ कहें कि पिछली सदी के अंतिम दशक में नारीवादी आंदोलन के परिणाम स्वरूप नारीवादी लेखन में सैलाब आया। संशोधन का विषय है कि आजादी के साठ वर्षों में महिला लेखन किन मुकामों से होते हुए आज तक कहाँ पहुँचा। इसका बारीकी से अभ्यास किया जाना चाहिए। हिन्दी साहित्य में महिला लेखन जैसा खांचा है तो दूसरे खाँचों के बरक्स आज

की स्थिति क्या है इस संदर्भ में कई प्रश्न खड़े होते हैं। आजादी के पहले और आज उसके तेवर में क्या फर्क आया है? क्या महिला लेखन, परिवार बच्चे, स्त्री-पुरुष संबंधों आदि के दायरे में ही सिमटा रहा है या उसमें बदलाव आया है? और बदलाव आया है तो कितना? और दायरे को तोड़ने में अड़चने हैं तो कौन-सी? सामाजिक प्रतिबद्धता के स्वर तो सुने गये मगर राजनैतिक लेखन, विचारधारा आदि का प्रभाव महिला लेखन पर पड़ा है तो कितना?

हिन्दी साहित्य में आजादी के कई आंदोलन आए। उन आंदोलनों का कितना प्रभाव नारीवादी लेखन पर पड़ा? महिला लेखन का कोई खांचा तो सही अर्थों में तभी बन सकता है जब पुरुष से भिन्न स्तर पर और एक विशिष्टसंवेदना के रूप में उसकी पहचान साहित्य में बने। और जिसका साहित्य को एक विशिष्ट अवदान हो। यानी कि स्त्री के द्वारा अपनी खास ऐतिहासिक सामाजिक स्थिति के बिंदु से देखा खास यथार्थ, जिसे अमूमन लेखन के लिए ऐसी कोई गुंजाइश नहीं। और यदी कहीं किसी भिन्न संवेदना की पहचान की गई है तो उसे पुरुष संवेदना से एक दर्जा नीचे मानकर। महिला लेखन का एक खांचा दलित उत्पीडित मानव के लेखन के रूप में बनाया जा सकता है। उसकी जाहिराना तौर पर साहित्यिक से अधिक समाजशास्त्रीय उपगोगिता ही हो सकती है। प्रामाणिकता की कसौटियाँ पुरुष लेखन और महिला लेखन की अलग-अलग नहीं हो सकती। अलका सरावगी ने अपने एक इन्टरव्यू में कहा है, "महिला लेखन पर पुरुष के समकक्ष विषयों पर लिखने का एक निहायत गैर जरूरी दबाव आजादी के बाद पैदा हुआ।"7 नतीजा यह हुआ कि सच्ची सद्भावना से न लिखा जाकर एक सतही तौर पर बोल्ड दिखनेवाला महिला लेखन इसी दबाव के तहत लिखा गया जो मुक्तिवादी, तोड़फोड़वादी और व्यवस्था विध्वंसक था। यह प्रक्रिया अब भी खत्म नहीं हुई बल्कि उपभोक्तावाद के दौर में ये दूसरे रूप में आ रही है। इसमें एक स्त्री की संवेदना, उसकी सेक्सुआलिटी का एक लगभग रहस्यभाव प्रवण भाव खासकर कविताओं में काफी दिखता है। 1997 के इन्डिया टुडे के साहित्य वार्षिकी अंक में इस संदर्भ में कुसुम अंसल द्वारा पुरुषों द्वारा बनाये चौखटों को तोड़ने के उपकरण के रूप में नारीवादी लेखन को देखा गया है। वे कहती हैं, "रचना की सार्थकता इसी में होती है कि वह पाठक को कितना संमोहित कर सकता है और वह स्वयं भी कितना संप्रेषित हो सकता है।"8 बहुत बार ऐसा भी होता है कि रचनाकार अपनी कृति पर हावी हो जाता है और वही आवाज रचना को महिला या पुरुष लेखन के दायरे में खड़ा कर देती है या उसके आत्मप्राधान्य को स्थापित करती है। यह भी सच है महिलाओं की अपनी सीमाएँ होती हैं और वे अपने निकट की उसी जमीन को देख पाती हैं जिसमें पति या परिवार या अन्य संबंधों की आड़ी तिरछी रेखाएँ हैं।

आम तौर पर लेखिका से यही अपेक्षा रखी जाती है कि जो वह लिखे मुख्यतः शोषण प्रधान हो। शोषण किसी भी स्तर का हो। शारीरिक, आर्थिक, पारिवारिक। क्योंकि पाठकों को एक विचित्र-सा आनंद आता है। नारीवादी लेखन में दो प्रकार की लेखिकाएँ सामने आई हैं। एक तो सूडो किस्म की जिनके निकट मर्यादाओं, तयसुदा ढाँचों, लिमीटेशन्स को कुछ लेनादेना नहीं था। शरीर की पवित्रता या शरीर की अहमियत आवश्यकताओं के अनुसार बढ़घट रही थी। पुराने मूल्य विघटित ही रहे थे। नये सुविधा अनुसार गढ़े जा रहे थे। अतः इन लेखिकाओं ने अपने साहित्य में वर्च्युअल रियालिटी का समावेश करके शब्दों और शैली में नये प्रयोग किये। उनके जो पात्र उभरकर आये वो कठोर थे। खुरदरे और मर्दमार। उन्हें सेक्सुअल पोलिटिक्स से भी कुछ लेना-देना नहीं था। ऐसे में जो रचनाएँ सामने आयीं, कृष्णा सोबती की 'यारों के यार' और 'मित्रोमरजानी', मृदुला गर्ग का

'चित्तकोबरा' आदि। दायरे तोड़ने की अड़चने उन्हें छू भी न सकीं। दूसरे प्रकार की लेखिकाओं का लेखन साहित्य को उसके मर्यादित पेडस्टल पर ही पूरी गरिमा, नफासत और स्त्रीयोचित गुणों के साथ स्थापित करता है। इस प्रकार के लेखन में मानव जीवन की दो मुख्य आधार शिलाओं की चर्चा है। एक तो अर्थ विभाजन दूसरा स्त्री-पुरुष का पारस्परिक संबंध। परंपरागत स्त्री की पहली शर्त है पराधीनता से मुक्ति और पराधीनता का सिकंजा उसे दोनों पहलुओं पर दबोचता है। सहारा टटोलने के लिए मानो एक यथार्थ के बोध के तहत साहित्य में कई वाद उभरे अत: लिखने का तेवर अपने आप बदलता गया।

जहाँ तक राजनैतिक लेखन का सवाल है, देश के विभाजन को लेकर लिखे गये साहित्य का सवाल है तो काफी कुछ महिला लेखन में उभरकर आया है। मन्नू भंडारी के 'महाभोज' से लेकर सरावगी की ताजातरीन कहानियाँ, कविताएँ तक कई कृतियाँ महत्वपूर्ण हैं। हिन्दी साहित्य में आलोचना की विधा बहुत कमजोर है। यहाँ किसी का मूल्यांकन सही ढंग से नहीं होता। मूल्यांकन के आंकड़े सब के अपनी निजी स्वार्थ से चलित होते हैं। कुछ व्यावसायिक किस्म के आलोचक हैं तो अपने पढ़े-लिखे पन को किसी भी रचना या किसी भी लेखक-लेखिका पर तोड़-मरोड़ कर फिट कर देते हैं। अच्छा ही है महिला लेखिकाएँ वैसी आलोचना नहीं करती। वैसे भी एक भयानक सत्य और है कि हिन्दी साहित्य में कोई किसी को नहीं पढ़ता। यदि पढ़ता है कभी-कभार तो तारीफ नहीं करता। शायद यह भी एक कारण है कि अधिकतर लेखिकाएँ अपनी तूती खुद बजा रही हैं। नारीवादी लेखन के बारे में गगन गिल के विचार सबसे अलग हैं। वे कहती हैं कि हिन्दी साहित्य की अधिकांश महिलाएँ काउच लेखन करती हैं। दुर्भाग्य से हिन्दी साहित्य में महिला लेखन का न सिर्फ एक खाँचा है बल्कि उसमें तमाम किस्म की साधारण लेखिकाओं को इकट्ठा करके उन्हीं के लेखन को महिला लेखन का प्रतिनिधि दर्जा देने की कोशिश होती रही है। गगन गिल लिखती हैं, "दिलचस्प तथ्य यह हैकि एक बड़ी लेखिका के दृश्य पर आते ही साहित्य की मुख्यधारा तुरंत उसे अपने में मिला लेती है। लगभग लिंक विहीन करते हुए। इसमें अक्सर महिला लेखक को भी आपत्ति नहीं होती, क्योंकि लिखना आखिर एक तरह का आश्वासन ही तो है। अपनी काया से बाहर खड़े होकर अपना होना देखना एक प्रकार की सिद्धि जिसे हमारे यहाँ सैकड़ों वर्षों से योगी करते रहे हैं।"9

विडंबना यह है कि अपने स्त्रीत्व को पार करके लेखिका अंत में जिसे हासिल करती है वह इसी निजत्व के बारे में एक नई उत्कट समझ है। क्या महादेवी वर्मा, कृष्णा सोबती, अमृता भारती आदि की रचनाएँ पढ़ते हुए हम कभी भूल सकते हैं कि वे महिलाएँ नहीं है? दुर्भाग्यपूर्ण यह भी है कि हमारे यहाँ महिला लेखकों ने स्वयं भी कोई बड़े जोखिम नहीं उठाये। न बीहड़ यात्राएँ की, न अनजाने अनुभवों के समक्ष प्रस्तुत हुई, न अपनी विशाल साहित्यिक संपदा का ही ठीक से अध्ययन किया। क्या कारण है कि आजादी के बाद हमारे यहाँ एक भी महिला या पुरुष महाश्वेता देवी जैसा नहीं पैदा हुई जो आदिवासियों की कथा लिख सके। इरावती कर्वे जैसी विदुषी नहीं हुई जो एक नया पौराणिक इतिहासिक चिंतन दे। गगन गिल की बात याद आती है कि हमारी अधिकांश महिलाएँ काउच लेखन करती रही हैं। हर बड़ी रचना को अंतत: कड़ी साहित्यिक कसौटियों पर खरा उतरना पड़ता है। वह पुरुष की है या स्त्री की, आदिवासी की या दलित की इससे क्या फर्क पड़ता है?

इन्डिया टुडे के उसी अंक में चित्रा मुद्गल एक दिलचस्प टिप्पणी करती हुई कहती हैं, "लेखन तो लेखन होता है नर-मादा नहीं। उसे नर-मादा के खांचे में बाँट कर देखनेवाली दृष्टि पूर्वग्रहग्रस्त है।लेकिन जिस तरह पुरुष लेखक की अनुभूति और चेतना की

अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही स्त्री लेखक द्वारा किया गया लेखन उसके विशिष्ट अनुभवों और आत्मचेतना की अभिव्यक्ति होती है। वह इसी समाज में पलीबढ़ी है। समता की आकांक्षी है। खाँचे में विभाजन कर उसकी चेतना की अभिव्यक्ति को परखने, मूल्यांकित करने का अर्थ होगा उसकी सामाजिक उपस्थिति को प्रतिसंसार के रूप में स्वीकृति देना।"10

'मित्रो मरजानी', 'जिन्दगीनामा', 'महाभोज', 'पटरंगपुर पुराण', 'अनित्य', 'नरक दर नरक', 'बेघर', 'अनारो', 'ठिकरे की मँगनी', 'एलानगली जिन्दा है', 'नदी नहीं रुकती', 'आओ पे पे घर चले', 'तत्सम्' ऐसे उपन्यास गिनाये जा सकते हैं जिनका समकालीन साहित्य में हस्तक्षेप कतई उपेक्षणीय नहीं। स्वतंत्रता के पूर्व प्रारंभिक दौर की लेखिकाओं का लेखन चाहे वह अन्नपूर्णा देवी का हो या उषादेवी मित्रा का या चंद्रकिरण सोनरिक्सा या शिवरानीदेवी या कौशल्या अश्क का। इसे कलम पकड़ने का साहस ही कहा जा सकता है कि उनके अनघड़ लेखन के मूल में घर-परिवार के छद्म और वे पारंपरिक उदात्त चरित्र थे जो पाठक के समक्ष आत्मीय सुदृढ़ नैतिक व्यक्तित्व का पुष्ट खाका रचते हुए मनुष्यता और मूल्यों की वकालत करते थे। उनकी स्त्रियाँ समाज में स्थापित, स्वीकृत पारंपारिक नारी छवि, सतीत्व, पत्नीत्व, मातृत्व को ही अपना अस्तित्व बोध मानकर चलनेवाली स्त्रियाँ रही हैं। जब कि समकालीन रचना परिदृश्य में नारी चेतना आत्मबोध से संपन्न परजीवी नहीं। स्त्रीत्व की पहचान संघर्ष के मूल में हैं। प्रतिवाद, उसकी धार है। आजादी के साठ-पैशपैसठपै वर्षों के उपरांत भी स्त्री की सामाजिक स्थिति में अभीष्ट परिवर्तन नहीं आया है। यह सच है अगर अब भी स्थिति इतनी कुरूप और अमानवीय और भयावह है तो लेखिकाएँ अपनी जाति के दमन, शोषण की बुनियादी समस्याओं से मुँह कैसे मोड़ ले? क्या उनकी चेतना आयने में अपनी संतुष्ट छवि देख अपनी मुक्ति पर इठलाने, मुग्ध होने भर के लिए है? सत्तर के दशक के उत्तरार्ध में आयी रचनाओं में विषमता के विरुद्ध नारी-चेतना को शील-संकोचों को झटककर प्रतिवाद की जमीन को कुरेदते अनुभव किया जा सकता है।

संदर्भ-ग्रंथ

1. मृदुला गर्ग, हंस मई,-1993
2. कथा और नारी संदर्भ, निर्मला जैन, हंस, जुलाई-1994
3. उपन्यास और नारी का आत्मसंघर्ष, प्रभा खेतान, हंस, जून-1994
4. उपनिवेश में स्त्री, प्रभा खेतान, पृ.53
5. वही, पृ. 54
6. नया मापदंड-स्त्री विमर्श खंड-1, डॉ. कमल कुमार संपादकीय
7. साक्षात्कार, अलका सरावगी
8. कुसुम अंसल, इंडिया टुडे, साहित्य वार्षिकी, 1997
9. गगन गिल, वही
10. वही

****

डॉ. अमृत प्रजापति
गवर्मेण्ट आर्ट्स एवं कॉमर्स कॉलेज कडोली,
आसि. पोफेसर हिन्दी विभाग
तहसील हिंमतनगर, जि. साबरकांठा (उत्तर गुजरात)
पीन. 383220

Copyright © 2012- 2016 KCG. All Rights Reserved. | Powered By : Knowledge Consortium of Gujarat